

# वैज्ञानिक शोध

## निजी वित्त समस्याओं का समाधान नहीं है

डॉ. सुभाष सी. लखोटिया

---

सरकार ने हाल ही में वैज्ञानिक शोध संस्थाओं को निर्देश दिया है कि वे निजी अनुदान लेकर 'सामाजिक रूप से प्रासंगिक' अनुसंधान कार्य में जुट जाएं। इस पर प्रतिक्रिया के रूप में प्रोसीडिंग्स ऑफ दी इंडियन नेशनल साइन्स एकेडमी के दिसंबर 2015 के अंक में डॉ. सुभाष सी. लखोटिया ने अपने संपादकीय में आगाह किया है कि शायद निजी वित्तपोषण का आग्रह देश में अनुसंधान व विकास गतिविधियों के लिए उचित नहीं होगा। प्रस्तुत है वह संपादकीय।

---

**भारत** में वैज्ञानिक कर्मियों की एक बड़ी संख्या है और काफी संख्या में शोध संस्थान हैं। शोध संस्थानों में बुनियादी और प्रयुक्त (एप्लाइड) दोनों तरह के अनुसंधान व विकास का काम किया जाता है। पिछले एक दशक में देश में अनुसंधान व विकास गतिविधियों में वृद्धि का रुझान रहा है। अलबत्ता, प्रगति की रफ्तार इतनी नहीं है कि देश अग्रणी देशों की कतार में खड़ा हो सके। उससे भी ज्यादा गौरतलब बात यह है कि विज्ञान अनुसंधान व शिक्षा में यह प्रगति एकरूप ढंग से वितरित नहीं है, बल्कि कहीं-कहीं छिटपुट बिखरी हुई है जिसकी वजह से कुल मिलाकर स्थिति घटिया और चिंताजनक बनी हुई है।

औद्योगिक व एप्लाइड शोध के मामले में भी स्थिति कोई बेहतर नहीं है क्योंकि देश में औद्योगिक उत्पादन का एक बड़ा हिस्सा आयातित टेक्नॉलॉजी पर ही आधारित बना हुआ है। आयातित टेक्नॉलॉजी का उपयोग या तो जस-का-तस कर लिया जाता है या सजावटी तौर पर कुछ परिवर्तन किए जाते हैं ताकि वह स्थानीय ज़रूरतों के अनुरूप दिखने लगे। अधिकांश देसी नवाचार 'जुगाड़' के रूप में होता है जिसमें क्वालिटी कंट्रोल काफी कमजोर होता है। इस स्थिति में परिवर्तन के मकसद से सरकार ने अब शोध संस्थानों और अन्य शोधकर्ताओं को निर्देश दिया है कि वे एप्लाइड अनुसंधान में ज्यादा भागीदारी करें ताकि देश में हो रहे शोध कार्य का दोहन भारत को टेक्नॉलॉजी की दृष्टि से आत्म-निर्भर और उन्नत राष्ट्र बनाने में किया जा सके। वैज्ञानिकों को एप्लाइड तथा 'सामाजिक रूप से प्रासंगिक' शोध कार्य

करने को विवश करने के लिए सरकार ने विभिन्न संस्थानों से कहा है कि वे सरकारी अनुदान के भरोसे रहने की बजाय अनुसंधान व विकास गतिविधियों के लिए कम से कम आधा वित्तीय समर्थन निजी उद्योगों से प्राप्त करें। यह एक मूलभूत बदलाव है।

भारत में कार्यरत अधिकांश शोधकर्ता और टेक्नॉलॉजिस्ट क्यों विश्व स्तर पर कोई उल्लेखनीय छाप छोड़ने में असफल रहे हैं, इस पर पिछले दशकों में कई बार विचार हुआ है और कई प्रतिवेदन, नीतिगत दस्तावेज़ तैयार किए गए हैं। इनका कोई प्रभाव हुआ हो, ऐसा नज़र नहीं आता। इसका एक मतलब यह निकाला जा सकता है कि इन सिफारिशों में जो सुझाव और मार्गदर्शन दिए गए वे बुनियादी मुद्दों को संबोधित करने में असफल रहे हैं और इसीलिए उनका मनचाहा असर नहीं हुआ है। हालांकि इस बात को निराधार तो नहीं कहा जा सकता कि इनमें से कुछ सुझाव क्षणिक प्रतिक्रिया जैसे रहे हैं, मगर टिकाऊ व व्यापक प्रगति न होने का ज्यादा संभव कारण शायद विभिन्न सुझावों और सिफारिशों के क्रियांवयन में है।

अधूरे क्रियांवयन या गलत क्रियांवयन से यह सुनिश्चित हो जाता है कि अपेक्षित बदलाव मरीचिका बना रहेगा। अब सरकार ने विभिन्न शोध संस्थानों, जो मूलतः सरकारी अनुदान पर आश्रित रहे हैं, को निर्देश दिया है कि वे एप्लाइड शोध से जुड़ें और अपनी अनुसंधान व विकास (आर एंड डी) गतिविधियों के लिए सरकारी सहायता पर निर्भर रहने की बजाय उद्योगों से मदद प्राप्त करें। इस अभूतपूर्व सरकारी

आदेश के पीछे मूल मान्यता यह है कि जब वैज्ञानिक समुदाय उद्योग से वित्त प्राप्त करके 'सामाजिक रूप से प्रासंगिक' शोध में जुड़ेंगे, तभी शोध के परिणामों का प्रत्यक्ष व्यापारिक उपयोग होगा। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि हमारे लिए ज़रूरी है कि एक ओर तो देशी अनुसंधान को बढ़ावा देने और उसका उपयोग करने में उद्योगों की ज़्यादा भागीदारी हो, तथा दूसरी ओर हमारे वैज्ञानिक ऐसे शोध कार्य उठाएं जिनसे देश के लोगों के जीवन की गुणवत्ता बढ़े और उद्योग के लिए अग्रणी टेक्नॉलॉजी उपलब्ध हो सके। औद्योगिक वित्त-पोषण पर जोर देने का एक कारण यह भी है कि इससे वैज्ञानिक समुदाय एक निर्धारित समयावधि में पूर्व-निर्धारित परिणाम देने के प्रति ज़्यादा जवाबदेह बनेगा।

ये अच्छे उद्देश्य हैं मगर क्या ये देश में अपेक्षित अनुसंधान के सारे पहलुओं को संबोधित करते हैं? उससे भी महत्वपूर्ण सवाल है कि क्या हमने इस मूलभूत परिवर्तन के लिए ठीक से नियोजन किया है और अपने वैज्ञानिकों और समाज को तैयार किया है?

आदर्श स्थिति में, कोई भी शोधकर्ता जिज्ञासा-प्रेरित सवालों के जवाब की खोज करता है। कई मामलों में, खासकर पीएच.डी. प्रेरित शोध में, जो व्यक्ति सवाल पूछता है वह अलग होता है और वास्तव में उसका जवाब तलाश करने वाले व्यक्ति अलग होते हैं। जो लोग वास्तव में जवाब की खोज कर रहे हैं, जब तक उनमें जिज्ञासा पैदा नहीं होती और वे ज़्यादा गहराई में जुड़ते नहीं, तब तक वे तकनीशियन ही बने रहेंगे, शोधकर्ता नहीं बन पाएंगे। देश में अधिकांश आर एंड डी गतिविधियां फीकी रही हैं क्योंकि कई सारे तथाकथित शोधकर्ताओं और तकनीशियनों के बीच कोई भेद ही नहीं है।

व्यक्ति-व्यक्ति के बीच जिज्ञासा की दिशा और स्तर में अंतर होते हैं। इसीलिए कौन से प्रश्न वास्तव में पूछे जाएंगे और कितनी शिद्धत से इनकी खोजबीन की जाएगी, इसमें भी शोधकर्ताओं के बीच काफी अंतर होते हैं। अपने वैज्ञानिकों को मूलतः एप्लाइड व सामाजिक रूप से प्रासंगिक शोध कार्य में शामिल होने को कहकर क्या हम शोधकर्ता की कुदरती जिज्ञासा को नहीं नकार रहे हैं?

बुनियादी अथवा एप्लाइड शोध में उद्योगों की भागीदारी का वर्तमान स्तर क्या है? कुछेक अपवादों को छोड़ दें, तो हमारे अधिकांश उद्योगों ने सक्रिय अनुसंधान व विकास के कामों में गंभीरता से भागीदारी नहीं की है। कारण यह है कि उनकी उत्पादन प्रक्रिया तो मूलतः आयातित टेक्नॉलॉजी और आयातित हार्डवेयर के भरोसे चलती है।

आम लोग भी 'इंपोर्टेड ब्रांड' ज़्यादा पसंद करते हैं क्योंकि ऐसी मान्यता है कि वे देसी ब्रांड्स के मुकाबले बेहतर क्वालिटी/उपयोगिता से लैस होते हैं। देसी ब्रांड्स को अक्सर एक घटिया विकल्प माना जाता है, इनकी 'सामाजिक प्रतिष्ठा' भी कम होती है। लिहाज़ा, उद्योग आयातित वस्तुओं/टेक्नॉलॉजी का प्रचार-प्रसार जोर-शोर से करते हैं।

तथ्य यह है कि अग्रणी शोध के लिए लगभग सारे रसायन और उपकरण आयात किए जाते हैं; इसी से हमारी तैयारी का पता चल जाता है। एक ओर प्रोत्साहन और मांग का अभाव तथा साथ में वांछित स्तर की जिज्ञासा और प्रेरणा का अभाव, इनका मिला-जुला परिणाम है कि वैज्ञानिकों और उद्योग के बीच पर्याप्त परस्पर संपर्क नहीं बन पाया है कि हमारे देश के लिए प्रासंगिक मुद्दों के सटीक तकनीकी/नवाचारी समाधान विकसित हो पाएं। स्वास्थ्य सम्बंधी अनुसंधान और दवा उद्योग से उसका सम्बंध इसका एक उदाहरण है। यह एक सामान्य एहसास है कि हमने सरकारी और औद्योगिक अनुदान का एक बड़ा हिस्सा उन संक्रमणों और बीमारियों पर शोध के लिए खर्च किया है जो भारत के लिए उतना महत्व नहीं रखतीं। इसमें उन बीमारियों पर अनुसंधान की उपेक्षा हुई है जो हमारे देश में स्थानीय हैं और बड़ी आबादी को प्रभावित करती हैं। इसका कारण यह है कि दवा उद्योग प्रायः बहुराष्ट्रीय कंपनियों के नियंत्रण में है जिनकी दिलचस्पी कहीं और होती है।

कमज़ोर मांग, कमज़ोर आत्मविश्वास और इनके चलते उद्योग व वैज्ञानिकों दोनों के लिए कमज़ोर प्रोत्साहन के चलते यह संभव नहीं लगता कि उद्योग ऐसे दूरगामी नवाचारी अनुसंधान कार्यक्रमों को समर्थन देंगे जहां सफलता की गारंटी नहीं है और निवेश काफी अधिक हो सकता है।

वर्तमान परिस्थिति में ज्यादा संभावना इस बात की है कि औद्योगिक वित्तीय समर्थन तात्कालिक तदर्थ मुद्दों के लिए मिलेगा, जिनसे कोई महत्वपूर्ण दूरगामी तकनीकी प्रगति नहीं हो सकती।

यह एक गलतफहमी है कि देश बुनियादी अनुसंधान में पर्याप्त निवेश के बगैर भी काम चला सकता है। यहां तक कि औद्योगिक रूप से विकसित जिन देशों ने कुछ वर्षों पहले बुनियादी अनुसंधान पर निवेश में कटौतियां की थीं, वे भी अपनी गलती को स्वीकार कर रहे हैं। हमें वह गलती दोहराने की ज़रूरत नहीं है। मानवजाति के लिए बुनियादी अनुसंधान की ज़रूरत बरकरार है क्योंकि आज भी हम प्रकृति के क्रियाकलाप के बहुत थोड़े-से हिस्से को ही समझ पाए हैं। बुनियादी अनुसंधान युवा मस्तिष्क के प्रशिक्षण के लिए भी ज़रूरी है ताकि वे वैज्ञानिक मिज़ाज विकसित कर सकें। और भी ज्यादा महत्वपूर्ण बात यह है कि यदि हम अन्य लोगों द्वारा सर्जित ज्ञान के आधार पर नई टेक्नॉलॉजी विकसित करना चाहते हैं तो हम अनुयायी की हैसियत में ही रहेंगे, कभी भी नेतृत्व की स्थिति में नहीं पहुंचेंगे। हम महज़ 'विशेषज्ञों को आयात' करके अपने ज्ञान का विकास व विस्तार नहीं कर सकते। फिर चाहे ऐसे विशेषज्ञ भारतीय मूल के हों या अन्य हों। यह काम तो मूलतः देशी प्रयासों से ही संभव है। निश्चित रूप से बुनियादी अनुसंधान नवाचारी होना चाहिए जो नई समझ का मार्ग प्रशस्त कर सके ताकि इससे दीर्घावधि में अनुप्रयोगों की नई दिशाओं के रास्ते खुलें। हम कमतर स्टैण्डर्ड और दोहराव वाले अनुसंधान पर चलते नहीं रह सकते क्योंकि इससे मात्र नौकरी और पदोन्नति पाने की अनिवार्य शर्तों की पूर्ति होती है। यह न सिर्फ़ पैसे की बरबादी है बल्कि मिथ्या अनुसंधान (pseudo research) है।

सिर्फ़ मात्रा पर निर्भर रहने की बजाय हमें गुणवत्ता का वस्तुनिष्ठ आकलन भी सीखना होगा। जब तक सारे क्षेत्रों में बुनियादी अनुसंधान की गुणवत्ता में सुधार नहीं होता, तब तक 'सामाजिक रूप से प्रासंगिक' अनुसंधान में नवाचार और मौलिकता का अभाव बना रहेगा जिसके चलते उपयोगिता भी नहीं होगी। हमें जवाबदेही-आधारित बुनियादी, औद्योगिक

व लक्ष्य-उन्मुखी अनुसंधान विकसित करना चाहिए। हाल के कई विश्लेषणों ने संकेत दिया है कि उद्योग-प्रेरित अनुसंधान में खतरा यह रहता है कि उनके परिणाम बहुत संकीर्ण उपयोगिता वाले होते हैं। लिहाज़ा, जिस तरह से बुनियादी और लक्ष्य-प्रेरित उपयोगी अनुसंधान के बीच संतुलन ज़रूरी है, उसी तरह से अनुसंधान के लिए सरकारी व औद्योगिक अनुदान के बीच संतुलन भी ज़रूरी है।

मेरा मत है कि देश में बुनियादी और एप्लाइड अनुसंधान व विकास गतिविधियों की घटिया गुणवत्ता (जो सीधा 'मेक इन इंडिया' को प्रभावित करेगी) का सबसे महत्वपूर्ण कारण हमारी बरबाद होती शिक्षा और मानव संसाधन को उपयोग करने की प्रणाली है। इन मुद्दों पर अतीत में काफी चर्चा हो चुकी है। देश की विज्ञान अकादमियों ने भी इस पर काफी कुछ कहा है। इसलिए यहां इन्हें दोहराने की ज़रूरत नहीं है। मगर बदकिस्मती से, व्यापक चर्चाओं और विचार-विमर्श के बावजूद, ज़रूरी सुधार किसी दूरगामी परिप्रेक्ष्य में नहीं किए गए हैं। समय-समय पर जो तथाकथित 'सुधार के उपाय' किए गए हैं, वे तदर्थ हैं। और जब इनमें संभावनाएं होती भी हैं, तो हम चतुराई से ऐसे उपायों को विकृत करने में निपुण हैं।

हम छात्रों को जिज्ञासु और एकीकृत समझ से परिपूर्ण नहीं बना रहे हैं। नतीजतन, हमारे अधिकांश स्नातक और स्नातकोत्तर छात्र रोज़गार के अयोग्य होते हैं। सौभाग्यवश कुछ छात्र हमारे बावजूद संभावना से परिपूर्ण होते हैं। मगर हमारा सामाजिक व अकादमिक माहौल यह सुनिश्चित कर देता है कि इनमें से अधिकांश देश छोड़कर चले जाएंगे और हमारे लिए गर्व का विषय मात्र यह रह जाता है कि भारतीय मूल के व्यक्तियों ने कितनी उपलब्धियां अर्जित की हैं। यह कई दशकों से चल रहा है।

क्या अकादमिक समुदाय और पूरे देश के लिए यह गंभीर चिंता का विषय नहीं होना चाहिए कि हम चाहे जितने दावे करें कि एक स्वतंत्र देश के रूप में हमने कितना विकास किया है मगर उसके बावजूद हम एक ऐसा माहौल तैयार नहीं कर पाए हैं जहां देश के नागरिक देश में ही काम करते हुए उपलब्धियां हासिल कर पाएं, जैसे कि वे बाहर

रहकर हासिल करते हैं? हम इसलिए असफल रहे हैं क्योंकि न तो हम युवा पीढ़ी को ठीक से शिक्षित करते हैं और न ही उन्हें ऐसा प्रोत्साहक माहौल दे पाते हैं जो उन्हें भलीभांति फलने-फूलने का मौका दे।

इसे बदलने की ज़रूरत है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि हर स्तर की शिक्षा एक सामाजिक दायित्व है। सरकार और समाज को अपनी ज़िम्मेदारी से पल्ला नहीं झाड़ना चाहिए और शिक्षा को कमतर या नगण्य क्वालिटी की ओर लुढ़कने नहीं देना चाहिए। हमारी मानव संसाधन उपयोग की नीतियों में भी आमूल बदलाव की ज़रूरत है ताकि सही व्यक्ति का उपयोग सही जगह पर कर पाएं।

यह सही है कि जनसंख्या वृद्धि को थामना ज़रूरी है मगर साथ ही यह भी ज़रूरी है कि अनगिनत लोगों को संदिग्ध गुणवत्ता की उच्च शिक्षा डिग्रियां प्रदान करने की बजाय विशाल युवा पीढ़ी के एक बड़े हिस्से को स्व-रोज़गार की ओर मोड़ा जाए। ऐसी निरर्थक डिग्रियों का नकारात्मक असर होता है। इन क्षेत्रों में समग्र सुधार के

बिना हम ज़्यादा हासिल नहीं कर पाएंगे, चाहे अनुसंधान व विकास के क्षेत्र में सुधार व वित्तपोषण की कोई भी नीति लागू कर दें।

प्राचीन भारत में विज्ञान के क्षेत्र में 'शानदार' उपलब्धियों की डींगें हांककर हमारी वर्तमान हालत नहीं सुधरेगी। ज़रूरत इस बात की है कि प्राचीन भारत की वैज्ञानिक व टेक्नॉलॉजिकल उपलब्धियों की तर्कसंगत छानबीन की जाए और वैध ज्ञान का उपयोग वर्तमान समझ के संदर्भ में किया जाए। अपने पूर्वजों की 'वैज्ञानिक उपलब्धियों' के भौंडे दस्तावेज़ीकरण के दम पर 'मिथ्या-विज्ञान' में चहलकदमी करने से फायदा कम और नुकसान ज़्यादा होता है।

सुस्पष्ट मिशनस और लक्ष्य अनिवार्य हैं। मगर उन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए समुचित प्रशिक्षित व उत्साही शोधकर्ताओं, समुचित सामग्री और सामाजिक माहौल के साथ-साथ दूरगामी नीतियों तथा उनके उचित क्रियांवयन के लिए योजनाओं की ज़रूरत है। फिलहाल हालत यह है कि हम इनमें से प्रत्येक में पिछड़ रहे हैं। (स्रोत फीचर्स)